संत साहित्य : एक सामाजिक विकृतियों के विरोध की सार्थकता

Shodh Siddhi
A Multidisciplinary & Multilingual Double Blind Peer Reviewed International Research Journal
Volume: 01 | Issue: 03 [July to September : 2025], pp. 69-74

डॉ. महक
सहायक प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय
भिवानी (हरियाणा) भारत

Abstract

संत साहित्य हमारे देश की अमूल्य निधि है । संतो ने समाज को दिशा देने का काम हर काल एवं हर परिस्थिति में किया है संत साहित्य मानव को

विपरीत परिस्थितियों में भी लड़ने एवं माननीय धर्म अपनाने तथा उस पर अडिग रहने का संदेश देता है । कबीर,सूरदास , तुलसीदास दादू दयाल जैसे अनेक संतो ने मानव को मानव धर्म अपनाने के साथ-साथ राष्ट्र के उत्थान के लिए एवं स्वयं के उत्थान लिए भी ईश्वर के साथ एकाकार करने का आह्वान किया ,जहां कबीरदास ने विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया , वहीं तुलसीदास ने रामचरितमानस एवं विभिन्न कृतियों के माध्यम से समाज में आदर्श समाज के निर्माण एवं कल्याणकारी कार्य करने के साथ _साथ केवल राम के स्मरण पर बल दिया । मीराबाई ने जहां समाज के सम्मुख अपने प्रबल भक्ति का उदाहरण रखा , वही गुरुनानक देव जी ने धर्म को सबसे ऊपर रखते हुए विभिन्न यात्राओ के द्वारा विभिन्न सामाजिक कुरीतियों एवं बाह्य आडंबर का विरोध करते हुए मनुष्य को समरसता का संदेश दिया।

Keywords: अंतर्मुखी, सनातन, समरसता, लोक धर्म , मानवता , अखंडता, समन्वय, मूल्य।

भक्ति आंदोलन सामाजिक चेतना में एक नवोन्मेष है। यह धर्म और मानवता के नए संकल्प के रूप में सामने आया। भक्ति काव्य उसी नवोन्मेष की उपज है। इतिहास में उसकी जड़ें दूर-दूर तक फैली हुई हैं। यदि भक्ति काव्य में उस समय की वास्तविकताएँ चित्रित हैं तो उनकी आलोचना भी, यदि उसमें एक ओर उस व्यवस्था की वास्तविकता से संबंधित अनेक चित्र हैं तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के विरोध के चित्रों से भी वह काव्य भरा पड़ा है। यदि उसमें शास्त्रीय रूढ़ियों का निषेध है तो लोक में प्रचलित रूढ़ियाँ भी देखने को मिलती हैं। कहीं-कहीं शास्त्र और लोक में समन्वय का प्रयास है।

भक्तिकाल का प्रयोजन सामाजिक , सांस्कृतिक परंपराओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हुए जागृति उत्पन्न करना है ; यह विनयपद मात्र लीलागान नहीं है। भक्तिकाल में कवियों ने अपनी वैयक्तिक चेतना को ही सार्वजनिक बनाया है। तुलसी की कविता सुरसरि (गंगा) के समान "सर्वहित होई" के उद्देश्य लेकर चलती है। रैदास और कबीर ने जीवन भर सामाजिक विकृतियों का विरोध करते हुए जीव को जिस प्रकार से बार-बार अंतर्मुखी बनने

का संदेश दिया, वह वास्तव में वंदनीय है। ये भक्त कवि अपनी चेतना का विस्तार करते हुए ही जन तक पहुँचते हैं। इनका काव्य आत्मविस्तार से जनविस्तार तक जाने का काव्य है। इनकी अपनी वेदना में जन की वेदना का सार मिला हुआ है , इसलिए इनका काव्य सामाजिक, सांस्कृतिक और लोकचेतना का काव्य है।

भक्तिकाल एक अखिल भारतीय जातीय काव्य है। यह किसी वर्ग या संप्रदाय के हित के लिए नहीं लिखा गया। यह जिस आंदोलन की उपज है , उसमें हिंदू-मुसलमान, सिख, जुलाहे, किसान, कारीगर और दस्तकार शामिल थे। यह एक ओर यदि तत्कालीन राज्य सत्ता का विरोधी है तो दूसरी ओर सामंतवाद , पुरोहितवाद का उतना ही विरोधी है। इस भक्ति आंदोलन में सभी वर्गों, सभी क्षेत्रों की जनता की सामूहिक संवेदनाओं का सार मिला हुआ है , इसलिए समाज में आज भी इसका असर मौजूद है।

भक्ति आंदोलन दक्षिण में उठा और अपनी सर्वग्राही प्रवृत्ति के कारण पूरे देश में फैल गया। यदि इसमें दक्षिण के

आचार्यों के दर्शन की छाप है या दक्षिण के आचार्यों की वैचारिकता की आग है तो उत्तर के संतों और भक्तों का भावाभिव्यक्ति भी है। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के जगत की मिथ्यात्वकता का खंडन किया। निम्बार्काचार्य , मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानंद आदि ने अपने-अपने दर्शन के द्वारा जगत की सत्यता की घोषणा कर दी। फलतः धर्म और भक्ति का द्वार सबके लिए खुल गया। इन आचार्यों ने घूम-घूम कर अपने मतों का जो प्रचार किया , उसका नतीजा यह हुआ कि महाराष्ट्र के वारकरी संप्रदाय के संत , असम के शंकरदेव, बंगाल के गौड़ीय संप्रदाय (महाप्रभु) , गुजरात के नरसिंह मेहता , पंजाब के सिख गुरु तथा हिंदी क्षेत्र के संतों और गुरुओं या भक्तों की वाणियों में एक ही स्वर सुनाई पड़ता है। यह भक्ति आंदोलन दक्षिण और उत्तर के क्रमशः विचार और भाव के मेलजोल से पैदा हुआ आंदोलन है। इसकी वैचारिक समानता को ही देखकर कहा जाता है कि यह भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय सांस्कृतिक संवाद का आंदोलन है। क्षेत्र और भाषा की दीवारें इसके संदेश को रोक नहीं पातीं।

भक्ति की समग्रता, परंपरा की अखंडता में है। तुलसी जी नाना पुराण सम्मत धर्म के महत्व को स्वीकार करते हैं। तुलसीदास जी सगुणवादी हैं, भक्त हैं, लेकिन वे भी ज्ञान की गरिमा समझते हैं—

"नहिं कहुं दुर्लभ ज्ञान समाना।"

जिस तरह निराकार ब्रह्म का प्रभाव निर्गुण भक्तों पर है , उसी तरह अवतारवाद का असर सगुण भक्तों पर है। तुलसीदास जी सगुणवादी हैं, लेकिन ब्रह्म की निर्गुण सत्ता को स्वीकार करते हैं—

अगुण सगुण दुई ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा। [1]

कबीर ने भी सगुण में निर्गुण और निर्गुण में सगुण कहकर कहीं न कहीं निर्गुण सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया तथा जीवमात्र को बार-बार समझाया—

"लाली मरे लाल की, जित देखूं तित लाल।"

कहकर अपने भीतर जुड़ने का आह्वान किया। जिस आह्वान की आज सबसे ज्यादा जरूरत है। आज समाज में हर व्यक्ति शांति प्राप्त करना चाहता है। उस शांति को प्राप्त करने के लिए वह मंदिर , गुरुद्वारे, गिरजाघर आदि अनेकों तीर्थस्थलों पर जाता है। यद्यपि वहाँ कुछ समय तो मन शांत रहता है , उसके उपरांत जीव उसी चक्रव्यूह में पुनः उलझ जाता है। इस चक्रव्यूह से निकलने का मार्ग कबीरदास ने प्रशस्त किया और उन्होंने अत्यंत साधारण शब्दावली में जीव को समझाते हुए कहा कि—

"मोको कहाँ ढूंढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में,
ना मैं काबा, ना मैं काशी, न मैं किसी कैलाश में।
मैं तो तेरे पास रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।"

भक्तिकाल लोकधर्म का काव्य है। आचार्य शुक्ल लोकधर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

"जनता की प्रवृत्तियों का जो औसत मान होता है वही लोकधर्म है। लोक रक्षा का धर्म जिससे समाज चलता है , यही व्यापक धर्म है।"

शुक्ल जी की दृष्टि में लोकधर्म मानवीय मूल्यों का धर्म है। इसमें मानवीय हित का भाव निहित है। लोकधर्म वह है जिस पर सामान्य जनता चलती है। इस दृष्टि से प्रेम ही वह व्यापक धर्म है जिस पर बिना भेद के जनता चल सकती है। यह लोकधर्म रास्ते में काँटे नहीं फूल बिछाता है। यह मनुष्य के खिलाफ मनुष्य के षड्यंत्र की इजाजत नहीं देता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि में लोकविश्वास ही लोकधर्म है। उनके लिए लोक का अर्थ है — हिंदू धर्म के हाशिए पर पड़ी हुई जनता। द्विवेदी जी के अनुसार भक्ति आंदोलन शास्त्रीय धर्म के विरुद्ध लोकधर्म का ही आंदोलन है। इस लोकधर्म में गरीब किसानों, मजदूरों, अन्य दस्तकारों की मानवीय भावनाएँ मिली हुई हैं।

कबीर जी को पता था कि रूढ़ियाँ भी लोक में प्रचलित होती हैं , इसलिए उन्हें आँख मूंदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए। कबीर जी ने समाज में प्रचलित लोकविश्वास को भी ठोक-बजाकर ही अपनाया। समाज में एक विश्वास प्रचलित है कि जो काशी में मरेगा वह मोक्ष पाएगा और जो मगहर में मरेगा वह अगले जन्म गधा होगा। इस लोकधर्म को मानने का मतलब है भक्ति का अनादर। कबीर जी कहते हैं—

लोक मति के भोरे रे,
जो काशी तन तजे कबीर,
तो रामहिं कहा निहोरे रे। [2]

कबीरदास जी ने हर उस विश्वास को ठुकराया जो तर्क की तुला पर खरा नहीं उतरता। उन्होंने लोक प्रचलित रूढ़ियों का भी खुलकर विरोध किया। लोगों को चेताया—

"जाति पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।"

इस प्रकार उन्होंने मानव मात्र को जातिगत भावनाओं से ऊपर उठाकर समरसता का संदेश दिया। समरसता पवित्र भावों को संजोता हुआ एक ऐसा उच्च धरातल है जहाँ शायद हर संत , महात्मा अपनी वाणी के उद्घोषण के द्वारा मनुष्य को पहुँचाना चाहते हैं। जहाँ न हर्ष है, न दुःख, न पीड़ा है, न प्रेम। इन सब भावों से कहीं ऊपर की यह मनःस्थिति है।

तुलसी जी ने अपने समय में फैली अनेक बुराइयों के उद्घाटन के साथ-साथ उन बुराइयों के समाधान का मार्ग भी प्रशस्त किया—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका,
सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परहित घोरा,
क्षमा कृपा समता रजु जोरा।[3]

तुलसीदास के काव्य में सनातनता और सृजनात्मकता को लेकर भले ही जहाँ-तहाँ द्वंद्व की स्थिति दिखाई पड़े , लेकिन मूलतः वे मानव-एकता के ही कवि हैं। तुलसीदास जी भक्ति का प्रयोजन बताते हैं—

"तुलसी ममता राम सो, समता सब संसार।"

यह महज़ तुकबंदी नहीं है। तुलसीदास जी की सृजनात्मक सृष्टि नैतिकता पर आधारित है। इसी कारण वे कह सके—

परहित सरिस धरम नहिं भाई,
परपीड़ा सम नहिं अधमाई। [4]

तुलसी जी की यही मानवतावादी दृष्टि है जिसके कारण द्वंद्व के बावजूद उनके काव्य में एक सामाजिक सौंदर्य दिखाई पड़ता है। कबीरदास जी की भक्ति भी मानव मूल्यों का ही दूसरा नाम है। वे भक्ति को सरल-सहज परिभाषा में बाँधते हुए कहते हैं। तुलसी जी ने जो स्पष्ट कहा कि प्रजा पीड़क राजा नरक का ही भागीदार हो सकता है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
ते नृप अवसि नरक अधिकारी। [5]

तुलसी जी ने तो अपने समय की प्रभु सत्ता के सब प्रलोभनों को ठुकराया बल्कि उन कवियों की भी निंदा की जो लाभ और लोभ के कारण मनुष्य का गुणगान करते हैं। उन्होंने मनसबदारी को लानत मारते हुए कहा—

हौं तो चाकर राम के, पटे लिखो दरबार,

तुलसी अब का होइहैं, नरक के मनसबदार। [6]

कुंभनदास सामान्य गृहस्थ कवि हैं। उन्होंने अकबर के अनुरोध को ठुकराते हुए कहा—

संतन को कहाँ सीकरी सों काम,

आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरी गयो हरिनाम।

मनसबदारी सत्ता के मिज़ाज को ही प्रतिबिंबित करती है। यदि सत्ता अन्यायी है तो मनसबदारी उससे अछूती नहीं रह सकती। इसलिए सभी कवियों ने सामंतों की चाकरी और मनसबदारी ठुकराई तथा सामान्य जनता के अनुभवों का आश्रय लेकर उनके दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति की।

पुरोहितवाद, संप्रदायवाद, जातिवाद, सामंतवाद के ही हथकंडे हैं। ये उसके सहायक हैं , अतः उसका उल्लू सीधा करते हैं। सभी भक्त कवियों ने इसलिए कर्मकांड , रूढ़िवाद, पुरोहितवाद एवं जातिवाद को ठोकर मारी। नामदेव बारबरी संत हैं। वे जातिवाद के विरोध में कहते हैं—

कहा करौ जाति कहा करौ पाति,

राम के नाम जपो दिन राति। [7]

तुलसीदास ने अपने समय में फैली सामाजिक कुरीतियों को देखा था। उन्होंने मानव समाज का नैतिक , सामाजिक, धार्मिक इत्यादि दृष्टियों से समाज की पीड़ा का अत्यंत गहनता से अवलोकन किया तथा उसे दूर करने के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया। तभी तो बार-बार मानव मात्र को राम के नाम-स्मरण हेतु प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं कि—

हे मनुष्य, यदि तू अपनी जीभ से राम के नाम का स्मरण नहीं करेगा तो तू तीनों लोकों में कहीं भी चला जा , तुझे तीनों ताप—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—सताते ही रहेंगे। राम का नाम ही इस संसार रूपी सागर से पार होने का एकमात्र साधन है। वही एक नौका है। अन्यथा तू विषय-वासनाओं के जाल में यदि एक बार फँस गया तो कितने ही युग तुझे इस भँवर से निकलने में लग जाएँगे। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि राम का नाम कल्पतरु है , जो मानव मात्र को चारों फल देने वाला है। इतना ही नहीं, राम का नाम महामणि के समान है , जिसे प्राप्त करने के पश्चात मनुष्य के लिए कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

आपसी वैमनस्य को दूर करने का संदेश देते हुए वे कहते हैं—

क बूँद ते विश्व रच्यों है,

को वामन को सूद्र।

हिंदू तुरक का करत एकै, ताकति लिखि न जात। [8]

तुलसीदास जी ने भी जातिवाद का उग्र विरोध किया। तुलसी जी को जहाँ दो मुट्ठी अन्न मिल गया , खा लिया; जहाँ दो गज ज़मीन मिल गई, वहीं सो गए। उन्होंने कभी यह नहीं पूछा कि यह ज़मीन मंदिर की है या मस्जिद की। वे कहते हैं—

मस्जिद की माँगि के खइबै, मसिद में सैबौं।

उनकी दृष्टि में जाति दो ही हैं —एक शासक की, दूसरी शासित की; एक शाह की, दूसरी गुलाम की; एक अमीर की, दूसरी गरीब की।

तुलसी जी ने अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था से उत्पीड़ित जनता को मुक्ति दिलाने के लिए आदर्श राजनीतिक राज्यव्यवस्था की कल्पना की। यह उनका आकांक्षित संसार या स्वप्नलोक जैसी व्यवस्था है। ये कवि आदर्श व्यवस्था का मॉडल रखकर अपने समय की ग्रस्त राजनीतिक व्यवस्था को सुधारने का अवसर देते हैं और यदि व्यवस्था नहीं सुधरती है तो जनता को आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के मॉडल के संदर्भ में प्रतिकार के लिए प्रेरित करते हैं। यह आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के मॉडल की कल्पनात्मक राजनीतिक व्यवस्था तुलसी जी के यहाँ रामराज्य के रूप में है। कबीरदास जी के यहाँ हमारे देशवासी के रूप में है , सूरदास के यहाँ गोकुल के रूप में है , जायसी के यहाँ सिंहल के रूप में है। तो तुलसी जी के रामराज्य में न तो कोई निर्धन है और न कोई अज्ञानी—

नहिं दरिद्र कोउ, दुखी न दीना।

नहिं कोउ अबुध, न लच्छन हीना। [9]

तुलसी जी के रामराज्य में किसी को दैहिक, दैविक, भौतिक ताप व्याप्त नहीं होता—

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।

राम राज नहिं कछुहि व्यापा। [10]

यदि नारी के बारे में चिंतन करें तो भक्तिकाल में ऐसी सामाजिक स्थिति नहीं थी कि कविगण नारी की पूर्ण स्वतंत्रता का गुणगान के पक्ष में नज़र आते। इसी भाव पर प्रकाश डालते हुए कबीर लिखते हैं—

अबला न सानी, अबना न सों हो,
राम कृपा भवसिन्धु सिसनी।
जागै फिर न अबिसहों। [11]

जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने लोकधर्म के रूप में प्रेम की पहचान की। शुक्ल जी मानते हैं कि लोकधर्म का आधार प्रेम है। जायसी आदि कवि हिंदू घरों की कथाओं को उन्हीं की बोली में कहकर हिंदुओं के मन में बैठे हुए परायापन के बोध को दूर करते हैं। वे अपने नायक रत्नसेन को योगी बनाकर किसान के बीच ले आते हैं और इस तरह उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का समन्वय स्थापित करने की कोशिश करते हैं। कथा स्तर पर भी उन्होंने लोक और शिष्ट का समन्वय किया है। उनके अनुसार प्रेम को पाकर ही मनुष्य बैकुंठ पा सकता है—

मानुष प्रेम भए बैकुंठी। [12]

रत्नसेन अपनी सारी वैशिष्ट्य लगाकर योगी और भिखारी बनकर पद्मावती के प्रेम को जीतता है—

तोउ कारण प्रेम पियाली,
राज छाड़ी के भयो भिखारी। [13]

यह काम अलाउद्दीन नहीं करता। वह धार्मिक उन्माद , राज्यसत्ता और सैन्य शक्ति के बल पर पद्मावती को पाना चाहता है। वह चित्तौड़ तो जीत लेता है लेकिन पद्मावती का हृदय नहीं।

सूरदास कृष्ण को राक्षसों का संहार करते हुए—बकासुर, अघासुर, पूतना, कंस आदि राक्षसों के वध में—लोक रक्षक के रूप में उभारते हैं। अपनी कनिष्ठ (कानी) उँगली पर गोवर्धन उठाकर उन्होंने अपनी गोकुल वासियों को इंद्र के प्रकोप से बचाया था। कृष्ण ने गोचारण के क्रम में गोपियों को जो सामाजिकता का पाठ पढ़ाया। कृष्ण गरीबों के रक्षक हैं। वे भक्तों को विपत्ति में उनके साथ खड़े होते हैं। द्रौपदी की लाज लूटने में जब अपने ही लगे हुए थे तब उनकी रक्षा कृष्ण ने ही की। द्रौपदी कहती है—

जितनी लाज गोपालहि मेरी,
तितनी नाहिं बद्धु हो जिनकी।
अंबर लसबनि तन हेरि। [14]

सगुण मार्ग कवियों ने अपने काव्य में लोक और शास्त्र के समन्वय का प्रयास किया। अतः लोगों ने जनसाधारण को समेटते हुए उनके सामने एक सामान्य भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की। फलतः हिंदू –मुसलमानों और ऊँच –नीच के बीच उत्पन्न असंतोष कम हुआ तथा एक-दूसरे के नज़दीक आने में काफ़ी मदद मिली। अतः इस प्रकार कह सकते हैं कि संत साहित्य लोक मंगल की भावना से अनुप्राणित है।

सी संदर्भ में यदि हम दादूयाल की बात करें तो दादू के सामने सवाल हिंदू होने या मुसलमान होने का नहीं है , सवाल मनुष्य होने का है, साधुता का है, सहृदयता का है। अतः हिंदू–मुसलमान के विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विवाद ही बेमानी है कि हिंदू अच्छा है या मुसलमान। यदि सारी दुनिया हिंदू और मुसलमान में बँटी हुई है तो यह धरती , आसमान, पवन, पानी, चंद्रमा और सूर्य किसके पंथ हैं ? जिस प्रकार पानी के अनेक नाम रख दिए जाते हैं , फिर भी पानी के रूप, गुण में कोई अंतर नहीं आता, उसी प्रकार ईश्वर भी एक है, परंतु लोगों ने उसके नाम अलग-अलग रख दिए हैं—

दादू, ये सब किसके पंथ हैं, धरती और आसमान।
पानी पवन दिन रात का, चंद सूर रहमान।

सामाजिक संबंध सब जानते हैं कि कितने सुखद या दुःखद होते हैं। संतों की वाणी में उपलब्ध खंडन सामाजिक संबंधों से प्राप्त सुखों-दुःखों को बढ़ाते नहीं, बल्कि संयमित करते हैं—सुख में बहुत उछलने मत, दुःख में बहुत पस्त मत हो—की सीख देते हैं। सामाजिक संबंधों के खंडन का उनका यही प्रयोजन है। यह वास्तव में जनतांत्रिक व्यवस्था की खोज की व्याकुलता है। संतों-भक्तों ने इस व्याकुलता के समाधान की खोज में ही काव्य-रचना की है।

यह ठीक है कि संतों की वाणी में सामाजिक संबंधों के प्रायः हर सामंती मूल्य का खंडन मिलता है। यही इसकी अद्यतन प्रासंगिकता है और यही उनकी समकालीन प्रासंगिकता थी। लेकिन यह खंडन समाज-विरोधी और विध्वंसक एकदम नहीं है। यह मानना भ्रम है कि सामाजिक संबंधों का खंडन करने या जीव-जगत की अनित्यता में विश्वास करने के कारण दादू या कोई भक्त सामाजिक प्रासंगिकता को खो देता है , जबकि खंडन का लक्ष्य है यह सिद्ध करना कि सभी एक हैं —मिलकर रहो, जियो और जीने दो। कोई अपना नहीं , कोई पराया नहीं। जब दुनिया का कोई भी कण उस परमसत्ता से व्यतिरिक्त नहीं है—घट-घट में वही समाया हुआ है—तब कैसा भेद? [15]

संत काव्य की प्रासंगिकता उसके मूल्यों में है —मूल्य है जीव मात्र की एकता —उसमें मनुष्य की एकता का स्वर स्वभावतः कुछ अधिक है। दादू की सामाजिक प्रासंगिकता उनके जगत और जीव संबंधी खंडनों में न तब थी और न ही आज है। कबीर, नानक, दादू कोई भी खंडन के लिए खंडन नहीं करते , बल्कि जीव और जगत को यह जताने के लिए करते हैं कि कहीं कोई भेद नहीं—

"साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।"

पेड़-पौधे, पंखी-पखेरू, हिंदू-मुसलमान, अपने-पराए—सबकी पीड़ा एक जैसी है , सबका सुख एक जैसा है। जाति-धर्म, अपने-पराए के भाव इस एकता को तोड़ते हैं। अतः भक्तिकाल के लगभग सभी संतों ने अपनी लेखनी एवं विचारों के माध्यम से मनुष्य को सद्मार्ग पर लाने का प्रयास किया और यह प्रयास आज भी जारी है।

References

1. तुलसीदास—रामचरितमानस, बालकाण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 127A
2. कबीरदास—बीजक, अभिलाष दास, पारख प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 35
3. तुलसीदास—कवितावली, प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. सं. 47
4. वही, पृ. सं. 47
5. तुलसीदास—रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 172
6. तुलसीदास—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 174
7. तुलसीदास—कवितावली, प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. सं. 157
8. तुलसीदास—कवितावली, प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. सं. 77
9. कबीरदास—बीजक, अभिलाष दास, पारख प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 179
10. तुलसीदास—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 288
11. कबीरदास—बीजक, अभिलाष दास, पारख प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 179
12. जायसी—पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, झाँसी, पृष्ठ सं. 240A
13. जायसी—पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, झाँसी, पृष्ठ सं. 240A
14. सूरदास—सूरसागर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 17
15. रवीन्द्र कुमार सिंह—दादू काव्य की प्रासंगिकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 65

❑❑❑